

## ‘वर्तमान सन्दर्भ में नारी स्वातन्त्र्य की चुनौतियों’

डॉ अनीता यादव  
सह-आचार्य (हिंदी)  
राजकीय महाविद्यालय बूंदी (राजस्थान)

**‘आसमान की ऊँचाई हो या सागर की गहराई हर मंजिल पर नारी ने अपनी पहचान बनाई’**

उत्थान पतन की गाथा समय के साथ चलती है। यह उत्थान पतन समाज का हो या उसके किसी वर्ग विशेष का कमोवेश उसका प्रभाव एक विचित्र समानता लिए रहता है। पिछले एक हजार सालों का इतिहास गवाह है कि कभी नारी-पूज्यते, कभी नारी-भोग्या और फिर नारी स्वातंत्र्य का चक्र निरंतर गतिमान है।

आधुनिक दुनिया का कोई भी सभ्य देश आज नारी के अधिकारों के प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता। अगर और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो यह कहना होगा कि सामाजिक जीवन में नारी-पुरुष के समान अधिकारों के औचित्य को स्वीकार न करने वाला कभी भी खुद को प्रगतिशील नहीं कह सकता। कई शताब्दियों से गुजरते हुए मानव-सम्मता आज विकास के एक ऊँचे स्तर पर पहुंची है। अनेक संघर्षों के अनुभवों को लेकर मानव समाज आगे बढ़ा है। ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ है। पुरातनपंथी धर्मान्धता के कुसंस्कार कदम-कदम पर बुद्धिवाद और वैज्ञानिक विश्लेषण के सामने धराशायी हो रहे हैं। लोगों के बीच वर्ग विभेद और नारी-पुरुष के बीच भेदभाव विधि का कोई शाश्वत विधान नहीं है। यह भेदभाव प्रभु वर्गों द्वारा तैयार किया गया है। यह आज ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित हो चुका है।

नारी मुक्ति को विश्व-व्याप्त लहर के परिणामस्वरूप सन् 1975 में अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष 1990 को अन्तर्राष्ट्रीय कन्या वर्ष एवं सन् 2001 की महिला सशक्तिकरण वर्ष 8 मार्च अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस 2005 महिला हिंसा विरोधी समिति (कावे) राष्ट्रीय महिला आयोग आदि का गठन हुआ। नारी मुक्ति आन्दोलन व्यक्ति स्वातन्त्र्य का पर्याय है। नारी स्वातंत्र्य अभियान का उद्देश्य समाज की जर्जरित और दोहरे मानदण्डों की पोषक मान्यताओं एवं पुरुषों के वर्चस्व का विरोध तथा नारी अस्मिता की पहचान बनाने का प्रयास रहा है।

शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा पाश्चात्य नारी सम्पर्क से भारतीय नारी की स्थिति में तथा उसके दृष्टिकोण में आमूल-मूल परिवर्तन हुए है। हजारों साल वस्तु मादा बने रहने की मूलयातना सहने के पश्चात सामाजिक जागरूकता का यह प्रथम अवसर है, जब नारी की नियति को लेकर संशय उठने लगे हैं। परम्परागत मूल्यों की शाश्वतता पर प्रश्न-चिन्ह लगाये जा रहे हैं और परिवर्तनशील परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओं के समाधान तलाश किये जा रहे हैं। एक और जहाँ समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों कलाशास्त्रियों ने तथा साहित्यशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण एवं अवधारणा से नारी समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है तो दूसरी और सरकार विविध कानूनों एवं आरक्षणों द्वारा नारी-उत्थान की दिशा में सतत प्रयत्नशील है। अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष महिला संगठनों की बढ़ती हुई संख्या जागृत नारी चेतना को ही उद्घाटित करती है। स्वायत्त संगठनों ने नारीवादी संस्कृति को जन्म दिया। परिणाम रूप फिल्म डाक्यूमेन्ट्री फिल्म, पत्र-पत्रिकाओं में महिला कॉलम का जरूरी होना, कई महिला पत्र-पत्रिकाओं का जन्म विमेन्स स्टडी की स्थापना, महिलाओं पर नयी खोज, नयी सोच पैदा हुई है। मीनाक्षी जिजीविषा की कविता ‘स्त्री’ की कुछ पंक्तियाँ – ‘दुनिया के मध्य उपस्थित ढूँढ़ रही है, वह अपनी दुनिया, घर के बीचोंबीच खड़ी वह घर में ढूँढ़ रही है अपना घर, अपने में ही खोज रही है, वह स्वयं को, उसकी तलाश जारी है, कोलम्बस की तरह’ (1)।

नारी स्वातन्त्र्य के आन्दोलन को भारतीय सन्दर्भ में एक बिल्कुल दूसरे ढंग से देखना होगा। पश्चिम में रुद्धियाँ अंधविश्वास झूठी मान्यताएं नारी के विकास को उस तरह तोड़ती या कुचलती नहीं, जैसा हमारे यहाँ आज भी है। उनकी समस्या शुद्ध व्यक्तिगत स्तर पर शारीरिक और मानसिक रूप से पुरुष निर्भरता से मुक्ति की समस्या है। जबकि हमारे यहाँ सामाजिक संस्कारों और रुद्धियों से उबरने की। यहाँ तो दहेज, जाति, आर्थिक परतन्त्रता, शील-सुरक्षा, सतीत्व और भारतीय नारी का बहुप्रचारित शिकंजा और भी अनेक रुकावटे हैं जो हमें खुला आसमान देखने ही नहीं देती।

आज तक मनुष्य का अर्थ सिर्फ पुरुष लगाया गया और सहचर नारी को इस मुक्ति अभियान से बाहर रखा गया क्योंकि अगर नारी भी मुक्त होती तो पुरुष वर्चस्व के सारे समीकरण चरमरा जाते इसलिए स्त्री विमर्श का कर्तव्य सिर्फ नारी की मुक्ति नहीं पुरुष को भी उन कुंडाओं और वर्जनाओं से मुक्त करना है जो नारी पर पुरुष वर्चस्व को सही ठहराती है। आज का सबसे बड़ा द्वन्द्व यही है कि नारी मुक्त हो रही है और पुरुष अपने परम्परागत स्वामित्व की रक्षा में हिस्क और प्रतिशोधी होता चला जा रहा है।

वह बलात्कारों सैक्स हिंसाओं, हत्याओं, धार्मिक प्रेत पूजाओं द्वारा नारी को उसकी वास्तविक हैसियत बता रहा है। इस जटिल स्थिति से छुटकारा पाने के लिए अपनी अस्मिता, अस्तित्व तथा मनुष्य रूप में पहचान बनाने के लिए नारी कृत संकल्प दिखाई दे रही। आज की

सजग सचेत जागरूक नारी ने अपनी स्वतन्त्रता की मुहिम छेड़ दी है। उसने एक जंग की तरह ऐलान किया है। आज वह न तो तुलसी के शब्दों में मात्र ताड़ना की अधिकारिणी है और न कबीर की माया का रूप, न प्रसाद तथा गुप्त जी वाली श्रद्धा और अबला है। जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष की भाँति संघर्षरत है तथा अपनी स्वतन्त्रता और मुक्ति को पाने का हर संभव प्रयास ढूँढ रही हैं। इसी भाव को व्यक्त करती है कात्यायनी की दुर्ग द्वार पर दस्तक की कुछ पंक्तियाँ –

मुक्ति की चाहत को , सपनों की दुनिया से बाहर लाना होगा , मुक्ति की चाहत को , बस चाहत हो बने रहने देना , बूढ़ा कर देगा । मुक्ति की चाहत को , अदम्य लालसा ही नहीं, दुर्निवार जरूरत बनाना होगा , उसे एक आदत में ढालना होगा , कविता का लिबास उतार कर , उसे रोजमर्झ की जरूरत बनाना होगा और फिर उसके लिए , वैसा ही उद्यम करना होगा, जैसाकि हम ताजम करते हैं, अपनी रोजमर्झ की जरूरते , पूरी करने के लिए , और थकते नहीं हैं (2) ।

वह पुरुषों से समानता का दावा करती है। वह सच्चे अर्थ में सहचरी बनना चाहती है। शिक्षा के कारण अर्थोर्जन की क्षमता आ गयी। राजनीतिक चेतना से भी वह ओत-प्रोत है। पति तथा परिवार के अन्य लोगों से होने वाले अन्याय को वह मूकता से सहना नहीं चाहती, उसका विरोध करती है। उसने अपने अधिकारों, कर्तव्यों का उचित समन्वय करके परम्परागत भूमिकाओं का त्याग किया तथा नवीन भूमिकाओं को अपनाया है। कन्या, पत्नी, माता, प्रेमिका के शाश्वत रूपों में नारी का बदलता स्वरूप दिखायी देता है। सामाजिक दृष्टि से विधवा तथा वैश्या के परम्परागत रूपों में भी नवीन भूमिका को स्वीकार किया। नारी के संबंध में जो पुराने आदर्श और प्रतिमान है उनको वो पीछे छोड़ रही है। नवीनता को अपना रही है, इसी भाव को व्यक्त करती है।

शिखा चंद्रा की कविता 'आदर्श' की कुछ पंक्तियाँ – है सीते पति की मात्र अनुगामिनी , किसी विचार या कर्म मे , सहधर्मिणी नहीं तुम "बस लाचार तुम , और उसमे अग्नि परीक्षा , कोई तर्क न विरोध , पतिव्रत धर्म के नाम पर , उसी का दिया साथ , जिसने किया ऐसा अविश्वास , कोई मान अपमान छू न गया तुम्हें , शिला की भाँति , क्या प्रतिमा और तुमसे फर्क नहीं ? क्या तुम्हारे मन मे कभी नहीं उठे प्रश्न तुमने कभी विरोध का न सोचा ? नहीं। आदर्श नहीं हो सकती , जो हार कर ले धरती में पनाह , आज की नारी नहीं चल सकती , उसके कदमों पर" (3) ।

स्वातन्त्र्य-चेतना से ओत-प्रोत नारी आज इन मूल प्रश्नों पर गहनता, गम्भीरता से चिन्तन मनन करने के लिए उद्यत है। "परम्परागत संदर्भ में नारी किसी की माँ किसी की बेटी, किसी की पत्नी, किसी की प्रेयसी पर मनुष्य रूप में कुछ नहीं ? मानवी रूप में मान्यता क्यों नहीं ? अपनी अस्मिता की स्थापना, रक्षा क्यों नहीं ? स्त्री होने के नाते वह दोयम दर्जे की नागरिक क्यों ? माँ होने के नाते वह पुरुष से ऊपर क्यों नहीं ? पति पत्नी के नाते दोनों परस्पर सहभोगी ही क्यों, सहभागी और पूरक क्यों नहीं ? दोनों के पृथक, स्वतन्त्र अस्तित्व और परस्पर पूरकता की बात प्राकृतिक देन है, आरोपित सामाजिक अवधारणा नहीं। धर्म, संस्कृति, नैतिकता का सारा बोझ स्त्री शरीर के कंधों पर ही क्यों लदा है ? स्त्री को शारीरिक मानसिक समग्रता में क्यों नहीं देखा जाता ? क्यों उसका सारा व्यक्तित्व उसकी यौनि-शुचिता से ही निर्धारित होता है ?" (4)

परिवर्तित परिवेश में भी यह गौरतलब है कि सामाजिक जीवन में महिलाओं के प्रति भेदभाव बरकरार है। आज राजनीति में नारी की भागीदारी स्वीकार करने के बावजूद भी राजनीतिक जीवन में नारी का प्रतिनिधित्व पुरुषों के मुकाबले काफी कम है। समान काम के लिए समान वेतन के सिद्धांत को भी पूरी तरह से लागू नहीं किया जाता। परिवार का सारा खर्च उठाने के बावजूद घरेलू कार्यों का अधिकांश बोझ महिलाओं पर ही पड़ता है। महिलाओं को ही हिंसा का शिकार बनाना पड़ता है। इन सबके मूल में एक ही बात निहित है, वो है पुरुष की वर्चस्वतावादी प्रवृत्ति। नारी स्वातन्त्र्य की मुहिम इसी वर्चस्वता के विरुद्ध है।

पिछले तीस सालों से इस अभियान ने बढ़ते हुए व्यापक रूप ले लिया है। आज महिला आन्दोलन एवं संगठनों की सक्रियता का ही परिणाम है कि किसी भी क्षेत्र में महिलाओं की समस्याओं को अनदेखा करना मुश्किल हो गया है, पर नारी की सामाजिक स्थिति या उत्थान में कोई बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं आया। मोटे स्तर पर नारियों में तीन वर्ग हैं – एक महानगरों और बड़े-बड़े नगरों में रहने वाली शिक्षित आर्थिक रूप से स्वतन्त्र ही नहीं बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में ऊंचे ऊंचे पदों पर कार्यरत आधुनिक चेतना सम्पन्न जो पुरुष-वर्चस्व का जुआ उतारकर अपने मूलभूत अधिकारों के प्रति सचेत ही नहीं, उन्हें पाने के लिए निरन्तर सक्रिय भी है। ये संख्या में बहुत कम है। दूसरी छोटे नगरों व कस्बों में रहने वाली उन महिलाओं का जो शिक्षित तो है, आर्थिक स्वतन्त्रता की दिशा में भी जिनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। पर इसके बावजूद अपने-अपने रुद्धिगत संस्कारों में बंधी, पुरुष वर्चस्व को ढोती, अपने मूल अधिकारों से वचित जी ही नहीं रहीं, बल्कि उसे ही अपना प्राप्त समझकर सन्तुष्ट भी है। पिछले कुछ वर्षों से इस वर्ग में भी आधुनिक चेतना का स्फुरण हो तो जरूर रहा है पर गति बहुत धीमी है। तीसरी दूर गाँव देहातों में रहने वाली निम्न वर्ग की अशिक्षित स्त्रियां जो मेहनत-मजदूरी करने के बावजूद ऐसी दयनीय स्थिति जीने को मजबूर हैं, जिसमें घर में मरने-खटने के साथ-साथ पति से कुटना पिटना भी उनकी सामान्य दिनचर्या का हिस्सा है। समाज में सबसे बड़ी संख्या तो इसी वर्ग की है। यह बहुसंख्यक नारी समाज तो आज दोहरी मार झोल रहा है एक ओर तो नारी होने का अभिशाप तो दूसरी ओर भयंकर गरीबी की मार। अभी तो इनका सारा संघर्ष अपने अस्तित्व को बनाये रखने का है। व्यक्तित्व की बात तो उनके सोच के दायरे के बिल्कुल बाहर की बात है। नारी विमर्श इनके लिए बौद्धिक विलास की बात है जिसकी न तो इन्हें कोई समझ न सरोकार असली लड़ाई तो इस पचास फीसदी की ही है।

आज की नारी पुरुष सत्ता को बदलना चाहती है। हथियाना नहीं। तुर्रा ये है कि हर पुरुष परिवार, बच्चों या घर टूटने के नाम पर नारी – मुक्ति की मुहिम पर अंकुश लगाना चाहता है। घर जोड़ना, परिवार को जुटाए रखना केवल स्त्री की जिम्मेदारी है पुरुष भी उसमें साझेदार क्यों नहीं बनता ? घर टूटने के डर से बच्चे छूटने के भय से परिवार बिखरने के खतरे से केवल औरत ही जूँझती रहती है। क्या इन सब कारणों से सदियों से नारी को पुरुषों की हिंसा सहते रहना जायज है, नहीं ऐसे घर से तो अच्छा है उसका टूट जाना। जो उसे सुरक्षा न दे सके।

जब भी नारी–स्वातन्त्र्य का सवाल उठाया जाता है, प्राय पुरुष खासकर कथित बुद्धिजीवी या अद्य पठित पुरुष समाज दुविधाग्रस्त हो जाता है। एक तरफ वह समाज के सामने नारी –मुक्ति का समर्थक दिखना चाहता है अन्यथा वह अमानवीय या पिछड़ा कहलाएगा। दूसरी तरफ उसे खुद अपने बिखरने का डर भी सताता है, क्योंकि नारी का इस्तेमाल वह सदियों से एक सेविका या दासी के रूप में करता आया है। घरेलू मामले में वह उस पर पूरी तरह आश्रित भी है। यह कहना ज्यादा उचित होगा कि वह घर के मोर्चे पर नारी पर सब कुछ छोड़कर निश्चिन्त रहता है। लेकिन इस सत्य को मन ही मन स्वीकार करने के बावजूद, पुरुष का अहम नारी की महत्ता को स्वीकार करना नहीं चाहता और उसे अक्षम मानकर चलता है। यह अच्छी तरह जानता है कि स्त्रियां बाहर के काम करते हुए घर भी कुशलता से संभाल लेती हैं। जबकि पुरुष केवल एक ही मोर्चा संभालता है। नारी के लिए पुरुष वर्ग यही मानता है कि इनकी कोई जगह नहीं है। इसी संदर्भ में मीनाक्षी जिजीविषा की कविता 'स्त्री' की कुछ पंक्तियाँ –

ये मानते हैं कि औरत, हवा है, धूप है, मिट्टी है, और इनकी कोई जगह नहीं होती, उन्हें नहीं पता कि, बीज को अँखुवाने के लिए, जरूरी है मिट्टी, हवा भी और धूप भी, अगर न हो ये, तो क्या संभव है सृष्टि (5)। यदि पुरुष मानवीयता के दृष्टिकोण को आत्मसात कर ले तो उसे नारी मुक्ति की मुहिम परिवार–भंजक नहीं लगेगी और न ही नारी की चाहना में उच्छश्रृंखलता नजर आयेगी।

समय लगातार आगे बढ़ रहा है। पुरानी रीतियां–परम्पराएं और स्थितियां लगातार बदलती जा रही हैं। मानव–समाज आधुनिक से अति–आधुनिक होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में कुछ भारतीय नारी भी अपना पुराना चोला छोड़ चुकी हैं। स्त्रीवाद की नयी मान्यताओं और स्थापनाओं के आधार पर स्त्री–स्वतन्त्रता कहीं सिगरेट, कहीं शाराब के साथ दिख रही हैं, कहीं अविवाहित मातृत्व के गौरव के रूप में, कहीं अविवाहित दाम्पत्य जीवन के रूप में। नारी स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता, मुक्तता के नाम पर कपड़ों की तरह प्रेमी और पति बदलने की बात भी धड़ल्ले से चल रही है तो कहीं समलैंगिता का चलन भी समाज में खुलेआम होने लगा है। इन सबको स्त्रीवाद की प्रगति और प्रगतिशीलता का अतिरेक माना जा रहा है। यह सुविधा सम्पन्न धनाढ़य वर्ग में है (6)।

जो वर्ग अभी तक अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा है, स्वतंत्रता समता के अपने अधिकार नहीं पा सका है। उस पिछड़े दलित, शोषित समाज में नारी स्वतन्त्रता का आधार और उद्देश्य अलग है। दलित, पिछड़ी स्त्रिया स्वतन्त्रता के नाम पर घर और परिवार का विघटन नहीं चाहतीं। वे पुरुष से आगे भी नहीं आना चाहतीं। ये पुरुषों के साथ अपना बराबरी का अधिकार चाहती हैं। कंधे से कंधा मिलाकर साथ चलना चाहती है। यथार्थ में अब नारी जीवन पर बन्धन लादना उचित नहीं है। शील, चरित्र और नैतिकता के मायने बदलते जा रहे हैं। जहाँ पहले परपुरुष को एक नजर देख लेना भी व्यभिचार माना जाता था किन्तु अब पुरुषों से मित्रता गलत नहीं मानी जाती। मगर इसके लिए यह भी जरूरी है कि नारी को मात्र भोग्या न माना जाए, क्योंकि इसमें शोषण नारी का होता है उसे एक देह नहीं बल्कि मनुष्य माना जाना चाहिए।

ममता कालिया के अनुसार – "मुक्ति एक व्यक्ति से नहीं वरन् एक व्यवस्था से मिलने वाली बात होती है"

पूँजीवादी आधुनिकता के संसर्ग से महिलाओं के आन्दोलनों ने हजारों साल से चली आ रही नारी–विषयक अवधारणा पर प्रश्न चिन्ह लगाने में सफलता प्राप्त की। पूँजीवाद के विभिन्न चरणों में बाजार के फायदे के लिए महिला के श्रम को घर के दायरे से निकालने की शुरुआत हुई। कम वेतन के बदले अधिक श्रम लिया गया। नारी मुक्ति अपनी सम्पूर्णता में कहीं भी उपलब्ध नहीं हो पायी क्योंकि विकास के इस क्रम ने औरत की स्थिति को एक बिकाऊ माल बनाकर रख दिया। इसी का परिणाम हुआ कि पिछले 15, 20 वर्षों में दहेज की मांग, वधु–दहन, औरतों द्वारा आत्महत्याएं, औरतों के शरीर का व्यापार, महिला मजदूरों के यौन शोषण की घटनाएं दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। पूँजीवाद ने संस्कृति और धर्म के नाम पर चले आ रहे औरत के प्रति दोयम दर्जे के बर्ताव को औरतों के चरम शोषण के साथ जोड़कर उसकी स्थिति को और भी बदल्तर बना दिया है।

औरत की देह, उसके श्रम और उसकी छवि का भूमण्डलीकरण ने अतीत के किसी भी काल के मुकाबले सर्वाधिक दोहन किया। भूमण्डलीकरण ने पितृसत्ता के कुछ नये रूप रचे। उसने परम्परा और धर्म के अलावा आर्थिक आधुनिकीकरण और वैकासिक आग्रहों को भी नई पितृसत्ता का जनक बना दिया, जब कि कभी इन दोनों को औरत की आजादी का सम्भावित जरिया माना जाता था। इस तरह भूमण्डलीकरण के तहत पितृसत्ता और मजबूत हो गयी। दरअसल भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में कमज़ोरों के लिए सिर्फ एक ही जगह है – उसे उत्तरोत्तर हाशिये पर सिमटते चले जाना है। और वह मनुष्य से मवेशी में बदल दिए जाने के लिए अभिशप्त है। चूंकि औरत परमपरागत रूप से कमज़ोर है इसलिए भूमण्डलीकरण का कहर सबसे ज्यादा उसी को झेलना पड़ रहा है (7)।

शोभा सिंह की कविता महिलाओं की कार्यशाला की कुछ पंक्तियाँ –

“भूमंडलीकरण सामप्रदायिक, फासीवाद, कैसे छिन रहा औरत का हक, उसे कुट्टी-सा काट चारा बना रहा, इसकी नजीरें पेश हुई, और अंत में, संघर्ष का कौन सा कारगर तरीका, दर्द को जिंदगी के आनंद में ढाल, शब्दों के पुल, औरत का दुख जोड़ रहा था, उसी में धीरे से, बड़ा सा सवाल भी किसी, कोने से गूंजा, जो शायद अक्सर पूछा जाता है क्या वाकई कुछ बदलेगा, या यूं ही छदम सपाट बयानी ? आज की जागरूक नारी अपनी स्वतन्त्रता की तीव्रता से मांग कर रही है—यथा लहरें जैसे पथरीले किनारों से टकरा जाएं, वैसे टकरा जाए हम, गुलाम बनाने वालों से, औरत की आजादी छीनने वालों से” (8)

उत्तर आधुनिकता के धक्के नें नारी की मुक्ति की आंकड़ा को लैंगिक प्रभेद की मुक्ति की मांग में बदल दिया है। आज नारी मुक्ति की भाग सामाजिक वयवस्था में परिवर्तन के बजाए पुरुष के प्रति योनि-निर्भरता के विरोध में बदल गई है। समानता की जगह सशक्तिकरण की मांग ने ले ली जबकि व्यावहारिक रूप में समानता का संघर्ष ही पूरा नहीं हुआ। वैधानिक तौर पर भले ही लिंग भेद समाप्त कर दिया गया हो, पर सामाजिक व्यवहार में नारी आज भी उसी पीड़ा और घुटन को झेल रही है, जिसकी झलक कमलादास की इन पंक्तियों में मिलती है—“साड़ी पहनों, लड़की बनो, बीबी बनो, वे कहते हैं, पढ़ाई करने वाली बनो, बावर्ची बनो, झगड़ालू बनो, नौकरों के प्रति उपयुक्त बनो, आह हिस्सा बनो, सॉचों में ढालने वाले चीखे।”

मानवीय प्रजाति के रूप में स्त्री की पहचान की समस्या यौन अस्मिता की समस्या बन गई है। सशक्तिकरण की मांग ने मुक्ति के बुनियादी संदर्भ को देह की मुक्ति में विसर्जित कर दिया है। उससे यह विकट प्रश्न पैदा हुआ है कि स्त्री मानव समूह के रूप में पुरुषों के प्रमुत्तावादी नियन्त्रण से मुक्त होगी या अपनी यौनिकता को लेकर स्वच्छन्द होगी। परिवार की संरचना बनाये रखने के लिए यह मुक्ति एकायमी है। प्रभा खेतान का प्रश्न है कि आखिर हम किस औरत की चर्चा कर रहे हैं ? भारत जैसे देश में जहाँ 60 फीसदी स्त्री गरीबी की रेखा के नीचे है। यहाँ केवल 5–10 फीसदी स्त्रियों के सबलीकृत होने से आखिर कितना फर्क पड़ेगा। असली लड़ाई तो इस 60 फीसदी की है। स्त्री स्वातन्त्र्य का संघर्ष तो सामाजिक सरचना में परिवर्तन से ही पूरा होगा। देह पर स्वामित्व के संघर्ष का परिणाम इतना ही हुआ है कि स्त्री सामाजिक अनुशासनों से मुक्त हो गयी है। मगर बाजार के अनुशासनों एवं दबावों से ग्रस्त हो गयी है (9)।

इस पुरुष-प्रधान समाज ने सदियों से नारी शरीर के साथ ‘शुचिता’ का जो तमगा लटका रखा है, उससे नारी की मुक्ति हो क्योंकि इसके चलते ही तो आज तक विधवा, तलाक शुदा बलात्कार की शिकार नारियां समाज में त्याज्य मानी जाती हैं। सच पूछा जाए तो आज नारी विमर्श से ज्यादा पुरुष विमर्श जरूरी है। सम्बन्धों की अपनी नैतिकता होती है, एक गरिमा होती है जहाँ तक मेरा विचार है—एक दो अपवादों को छोड़कर हमारे देश का स्त्री विमर्श या स्त्री द्वारा रचित और कल्पित स्त्री की धारणा अभी तक न तो परिवार-निरपेक्ष न सम्बन्ध-निरपेक्ष न सन्तान निरपेक्ष, परिवार तो चाहिए पर उसके रूढिगत ढाँचे को बिल्कुल बदल देना है। सम्बन्धों से मुक्त नहीं हुआ जा सकता उसकी आकंक्षा भी नहीं है। पुरुषों द्वारा निर्मित उसके स्वरूप को बदल देना ही एक मात्र रास्ता है। वास्तव में मुक्ति का अभियान पुरुष को समझे और समझाये बिना पूर्ण नहीं होने वाला एक शान्तिपूर्ण, सहअस्तित्व दोनों ओर के ईमानदार प्रयास की अपेक्षा रखता है जो पुरुष सत्ता स्त्री की शत्रु है—उसका अर्थ एक मानसिकता है न कि पुरुष का अस्तित्व इसलिए पुरुष का वहां होना और स्त्री विमर्श में भागीदारी होना स्वागत की बात है।

महिला आन्दोलन संघर्षरत महिला का आन्दोलन है, जो आज भी चल रहा है। हमारे देश में भी उमा चक्रवर्ती, नीरा देसाई, मैत्रेयी कृष्णराज, वीणा मजुमदार, कात्यायनी कमला भसीन, उर्वशी बुटालिया जैसी अनेकानेक महिला आन्दोलन की सैद्धान्तिकी पर लिखने वाली औरतें हैं। हिन्दी लेखिकाओं में चित्रा मुदगल, प्रभा खेतान, मृणाल पाण्डे, कृष्णा सोवती आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। सुधा अरोड़ा साहित्यिक हलके में सामाजिक सरोकारों के मुद्दे उठाने का साहसिक कार्य कर रही हैं, तो मैत्रेयी पुष्पा गांव की नारी को केन्द्र में ला रही हैं। कात्यायनी की ‘दुर्ग द्वार पर दस्तक’ संघर्ष शील स्त्री की मुक्ति की कोशिशों का दस्तावेज माना जाता है।

**निष्कर्षतः** लम्बे संघर्ष के बाद भी नारी को इंसान के रूप में मान्यता अभी तक नहीं मिली है। जबकि हम 21 वीं सदी में प्रविष्ट है। नारी को वर्ग रूप में कोई आजादी हासिल नहीं है, हिन्दुस्तान में नारी वर्ग के रूप में धर्म और संस्कृति के द्वारा तय किये गये शोषण कारी दायरों में आज भी कैद है। लम्बे संघर्ष के बाद पुनः कुछ जगहों पर कुछ स्तरों पर औरत ने पुरानी नाजायज सीमा रेखा तोड़ी है और देश व समाज के प्रति अपनी भागीदारी घर की चौखट के बाहर आकर सुनिश्चित की है। सम्पूर्ण स्थिति के संदर्भ में यहीं कहा जा सकता है कि घर की चौखट के बाहर जहाँ—जहाँ औरत ने अपनी योग्यता व क्षमता को प्रमाणित किया उसे सहज रूप से स्वीकार नहीं किया गया। यहीं कारण है कि उसे पुरुष की प्रतिस्पर्धा में बाहर तथा परम्पराओं की होड़ में घर पर दोहरा—तिहरा संघर्ष करना पड़ रहा है। पुरुष सत्ता की नींव हमारे समाज में बहुत गहरे तक घसी है, उसे तोड़ना बदलना, संवारना एक लम्बी लड़ाई है। आर्थिक आत्मनिर्भरता उसके लिए इज्जत कमाने की पहली शर्त है लेकिन आर्थिक आजादी ने औरत को दोहरी, तिहरी जिम्मेदारी में जकड़ दिया है। प्रताड़ना का स्तर यहाँ भी है।

सदियों से नारी को नियन्त्रण में रखते आए पुरुष की मंशा रहती है, कि वह उसकी सुविधा के लिए बनाए गए अनुशासनों का पालन करें लेकिन आज की नारी अनुशासनों के पीछे निहित पुरुष की प्रमुत्तावादी इच्छा को बखूबी समझने लगी है और उसने यह भी मान लिया है कि मुक्ति, स्वतन्त्रता के प्रचलित विमर्श उसकी समस्याओं के निदान के लिए न सिर्फ नाकाफी है, वरन् वे पुरुषों द्वारा गढ़े गए हैं इसलिए नारी विरोधी है। जब तक नारियां अपने आजाद होने की जरूरत को नहीं समझेगी। अपनी लड़ाई खुद नहीं लड़ेगी व अपने लिए स्वतन्त्रता के आयाम खुद तय नहीं करेगी तब तक दलित और कमतर शब्द के और से बाहर आना संभव नहीं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम

जिस देश में रहते हैं, अगर वहाँ आजादी के लिए देह की विडम्बना को ही सब कुछ मान लिया जाये तो स्थिति कमतर से बदतर हो सकती है— तसलीमा नसरीन के अनुसार जिस दिन समाज स्त्री शरीर का नहीं उसकी मेघा और श्रम का मूल्य देना सीख जायेगा सिर्फ उस दिन 'स्त्री' मनुष्य के रूप में स्वीकृत होगी।

अन्ततः कहा जा सकता है कि जिस तरह पारम्परिक रुद्धिवादी सोच को चुनौती देती हुई, पूरे साहस के साथ खुलकर नारियां अपनी बात कह रही हैं। भविष्य में सारी चुनौतियों के बावजूद हमें नारियां से अनेक सुखद संभावनाएँ हैं तथा आने वाले समय में भारत की नारी एक नये आत्मविश्वास के साथ आगे आयेगी। सामाजिक संघर्षों व अर्न्तविरोधों का एक वर्ग के रूप में सामना कर सकेंगी। भविष्य की ओर बढ़ते नारी के कदम नारी जीवन में नया आयाम देंगे। एक नहीं तो दो मात्राएँ नर से भारी नारी को चरितार्थ करेगी।

### संदर्भ सूची –

- (1.) युद्धरत आम आदमी, अक्टूबर–दिसम्बर, 2008 – पृष्ठ संख्या–44
- (2) कात्यायनी, 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' – पृष्ठ संख्या–31
- (3) जनमत इतिहास निर्माण और महिलाएं, मई 2006 – पृष्ठ संख्या–53
- (4.) आशारानी छोरा, भारतीय नारी अस्मिता और अधिकार पृष्ठ–7
- (5.) युद्धरत आम आदमी अक्टूबर–दिसम्बर, 2008 – पृष्ठ संख्या–44
- (6) युद्धरत आम आदमी अक्टूबर–दिसम्बर, 2008 – पृष्ठ संख्या–27
- (7.) हंस, स्त्री विशेषांक, मार्च, 2001 पृष्ठ संख्या–27, 31
- (8.) जनमत इतिहास निर्माण और महिलाएं, मई, 2006 पृष्ठ संख्या–48, 49
- (9.) जनमत इतिहास निर्माण और महिलाएं, मई 2006, पृष्ठ संख्या–21, 22, 23, 24